'द्रव्यदृष्टि प्रकाश' ग्रन्थमें से आत्मिक सुख एवं सम्यक्ज्ञानकी प्रवृत्ति विषयक वचनामृत

सम्यक्ज्ञानकी प्रवृत्ति

सभी शास्त्रों का – बारह अंग का सार तो 'मैं' हूँ; शेष सब बातें तो जानने की हैं। 'अपने' को दृष्टि में ले लेने पर जो ज्ञान उघड़ता है वह सब जान लेता है। ३३६.

❖

दृष्टि की बात को मुख्य रखकर सब खतौनी करनी चाहिए। इधर (– अंतर में) दृष्टि होनेपर जो ज्ञान हुआ.... वह (ज्ञान) वस्तु को जैसी है वैसी ही जान लेता है। इस दृष्टि के बिना तो किसी बात में अधिक खिंच जाता है या किसी बात को ढ़ीला कर देता है। परंतु दृष्टि होने पर ज्ञान (मध्यस्थ हो जाता है, इसीलिए) जिसकी जितनी – जितनी मर्यादा है उसके अनुसार ही जानता है। (स्वरूपदृष्टि में सर्वस्वरूप से स्वरूप की उपादेयता हो जाती है। और परिणमन का ऐसा वलण हो जाने से ज्ञान में अविवेक उत्पन्न नहीं होता जिससे ज्ञान अयथार्थरूप से हीनाधिक तूल नहीं देता। वैसी सम्यक् मर्यादापूर्वक ज्ञान की प्रवृत्ति रहती है।) ३३८.

❖

जिसको अनुभूति हुई हो – वह जीव अनुभव के बल से कौनसी बात सत्य है ? (और जो बात अनुभव से नहीं मिलती वो असत्य है – ऐसा) फौरन जान लेता है। ३४१.

❖

इधर (– अंतर) दृष्टि हुए बिना ज्ञान यथार्थ नहीं होता है। दृष्टि होने पर उत्पन्न हुआ ज्ञान – अपना (पर में) कितना अटकाव है ? अपनी स्वभाव में कितनी जमावट है ? कितना रस है ? – यह सब सहज जान लेता है। ३४२.

❖

जिस अपेक्षा से वस्तु का जो स्वभाव है उस अपेक्षा से शत प्रतिशत वैसा ही एकांत स्वभाव है, वह स्वभाव अन्य अपेक्षा लगाने से ढीला नहीं हो सकता। ३५५.

❖

त्रिकाली में एकत्व होनेपर राग ऐसा भिन्न दिखता है कि जैसे अन्य चीज प्रत्यक्ष भिन्न दिखाई देती है – राग इतना प्रत्यक्ष जुदा दिखता है। ३९१.

❖

मुँह में पानी के साथ कचरा आते ही खदबदाहट होनेसे उसे मुँह से निकाल (फेंक) दिया जाता है। ऐसे ही राग का वेदन तो कचरा है, ज्ञानी उसको अपना नहीं मानते। ज्ञानी को किसी भी क्षण राग में अपनापन आता ही नहीं। ४४९.

❖

ज्ञानी को राग बोझारूप लगता है। भारी चीज के ऊपर हलकी चीज हो तो बोझा नहीं लगता, लेकिन हलकी चीज पर तो भारी चीज का बोझा लगता ही है। ऐसे ज्ञानी को राग बोझारूप लगता है, खटकता है, खुँचता (सालता) है। ४५०.

❖

स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत - २५४१ : अंक-२०८ : वर्ष - १९ : जनवरी–२०१५

कार्तिक कृष्णा–४, शनिवार, दि. १८–११–१९७८, बहिनश्री के वचनामृत–३८६ पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन, प्रवचन–१५४

बाह्य क्रियाएँ मार्ग नहीं बतलाती, ज्ञान मार्ग बतलाता है। मोक्ष के मार्ग का प्रारम्भ सच्ची समझ से होता है, क्रिया से नहीं। इसलिये प्रत्यक्ष गुरु का उपदेश और परमागम का प्रयोजनभूत ज्ञान मार्गप्राप्ति के प्रबल निमित्त हैं। चैतन्य का स्पर्ष करके निकलती हुई वाणी मुमुक्षु को हृदय में उतर जाती है। आत्मस्पर्शी वाणी आती हो और जीव एकदम रुचिपूर्वक सुने तो सम्यक्त्व के निकट हो जाता है। ३८६।।

'**बाह्य क्रियाएँ मार्ग नहीं बतलाती,...**' आहा..हा..! बाहर की क्रिया ऐसी लगे, परिषह सहन करे, काया में पसीना उतर जाय, तेज़ धूप से काया ऐसे गरम.. गरम.. गरम.. हो जाय, पत्थर की तेज़ गरमी पर बैठे और ऐसे सहन (करे)। वह सब बाह्य क्रियाएं हैं, उससे वस्तु की (प्राप्ति नहीं होती)। आहा..हा..!

मुमुक्षु :– उसमें से लब्धि प्राप्त हो जाती है।

पूज्य गुरुदेवश्री :– उसमें से धूल भी कुछ नहीं होता। आहा..हा...! वह तो सम्यक् आत्मा की धातु चैतन्य है, उसे ग्रहण करने के बाद उसे कोई सच्ची लब्धि हो, अज्ञानीको तो साधारण होती है, विभंगज्ञान होता है। सात द्वीप, सात समुद्र देखता है। विभंग अज्ञान। सात द्वीप, सात समुद्र (देखे)। उससे क्या हुआ ? आहा..हा...! बाद में वह आवरित हो जायेगा। मिथ्यात्व का ज़ोर है वह निगोद में जायेगा। वह फिर से अक्षर के अनन्तवें भाग हो जायेगा, बापू ! आहा..हा...! ऐसी बात है।

ध्रुवमें से जो ज्ञान के अंकूर फूटे... आहा..हा...! जो दल है, पूरा चैतन्यदल, जिसमें बन्ध और मोक्ष की पर्याय भी नहीं है। आहा..हा...! बन्ध और मोक्ष की पर्यायवाला जानना वह भी एक मिथ्या अभिप्राय है। आहा..हा...! क्योंकि वह तो पर्याय है। आहा..हा...! द्रव्य स्वभाव जो त्रिकाल ज्ञायकमूर्ति प्रभु... आहा..हा...! उसे पहचानकर उसमें स्थिर हो, वहाँ थोड़ा स्थिर हो जा। तुझे पहचानने में आयेगा कि आत्मा पूर्णानन्द नाथ है और तुझे उसकी पर्याय में प्राप्ति होगी। पर्याय में जो राग की प्राप्ति अनादि से है (वह छूट जायेगी)। आहा..हा...! ऐसी बातें हैं।

'**बाह्य क्रियाएँ मार्ग नहीं बतलाती,...**' आहा..हा...! जंगल में रहे, तेज़ धूप में तप्त हुई पत्थर की शीला पर बैठे और सर्दी में पानी से भरा पाँच–पचीस कोस बड़ा तालाब हो, उसकी ठण्डी हवा, ठण्डी आये, पौष मास

का समय हो, वहाँ किनारे पर खुले नग्न शरीर पर सहन करे, वह कोई चीज नहीं। आहा..हा...! वह क्रियाएँ मार्ग नहीं बतलाती।

'**ज्ञान मार्ग बतलाता है**।' उसका जानन स्वभाव है और यहाँ जानन स्वभाव प्रगट करे तो उसे मार्ग बतलाये। आहा..हा...! जिसे सभी विषयानन्दमें से रुचि हट जाय और जिसे बाह्य अनुकूलता-प्रतिकूलता में भेद करना हट जाय कि यह प्रतिकूलता है और यह अनुकूल है, वह चला जाय। आहा..हा...! जिसे आत्मा ज्ञात होनेपर परवस्तु ज्ञेयस्वरूप जाने, परन्तु यह वस्तु मुझे प्रतिकूल है और अनुकूल है, ऐसा वस्तु में नहीं है। वस्तु में तो प्रमेयत्वशक्ति है तो प्रमाणज्ञान का विषय होता है। क्या कहा वह ?

भगवान आतमा का ज्ञानस्वभाव है, उसका भान होनेपर, वह सभी वस्तुएँ ज्ञेयस्वरूप-परज्ञेयस्वरूप, परज्ञेय के रूप में जाने। परन्तु यह प्रतिकूल है या अनुकूल है, वह दृष्टि ऊड़ गई होती है। आहा..हा...! ऐसी चीज,.. आहा..हा...! क्योंकि परचीज तो परज्ञेय स्वरूप है। उसमें परचीज कोई अनुकूल-प्रतिकूल है, ऐसी उसमें कोई छाप नहीं है। ज्ञेय में ऐसा गुण नहीं है कि यह प्रतिकूल और अनुकूल होना। आहा..हा...! मात्र वह वस्तु जो है, स्वयं जहाँ ज्ञानस्वरूप है, वहाँ उसका भान हुआ यानी सभी वस्तुएँ, उसे ज्ञेय स्वरूप जानने में रहती है। आहा..हा...! लेकिन कब ? स्वप्रकाशक पर्याय प्रगट हुई तब। समझ में आया ? क्योंकि भगवान आत्मा का स्वभाव स्वपरप्रकाशक है। इसलिये स्वप्रकाशक भगवान आत्मा के अस्तित्व का अनुभव हुआ, पहचान हुई, प्रतीति हुई और आंशिक लीनता भी हुई। आहा..हा...! तब वह ज्ञान स्व-परप्रकाशक होने से परज्ञेय को ज्ञेयस्वरूप जाने परन्तु परज्ञेय मुझे ठीक नहीं है और अठीक नहीं है, ऐसा उसमें नहीं है। आहा..हा...!

आता है न निन्दा-प्रशंसा... पीछे नहीं आता? निन्दा-प्रशंसा है वह तो शब्द की पर्याय है। आहा..हा...! कोई प्रशंसा करे, कोई निन्दा करे। वह तो स्वपरप्रकाशक ज्ञान हुआ है उसमें परज्ञेय को जाननेलायक है, परन्तु यह मेरी निन्दा-प्रशंसा करता है, ऐसा उसमें नहीं है। आहा..हा...! समझ में आया ? आहा..हा...! वह पीछे आता है न ? निन्दा-प्रशंसा। मूल में वह ऐसा कहना चाहते हैं कि वह परज्ञेय है। आहा..हा...! उसमें यह मेरी निन्दा और मेरी प्रशंसा (है), ऐसी वस्तु नहीं है। आहा..हा...! जिसे स्व आत्मा की प्रतीत और आत्मा सम्यक् में प्राप्त हुई, उसे परवस्तु ज्ञेयस्वरूप है। क्योंकि आत्मा का प्रमाण स्वभाव है इसलिये स्व-परप्रकाशक के हिसाब से पर को ज्ञेयस्वरूप जाने। लेकिन पर मेरा दुश्मन है और पर मेरा सज्जन है, ऐसा कोई ज्ञेय में नहीं है, इसलिये ज्ञान में भी वह नहीं है। आहा..हा...!

यह मेरा पुत्र है और यह तेरा है, वह उसमें नहीं रहता, ऐसा कहते हैं। यह मेरी स्त्री है और यह पुत्रवधु

है। प्रभु.. प्रभु..! तुम एकबार देखो तो सही। आहा..हा...! शरीर में मैं नीरोगी हूँ और यह रोगी हूँ, ऐसा स्वपरप्रकाशक ऐसा भगवान आत्मा, उसका भान होनेपर वह वस्तु परस्वरूप, परज्ञेय स्वरूप जानने में रहती है। परन्तु मैं रोगी और नीरोगी, यह मेरा पुत्र और तेरा, यह मेरी स्त्री और तेरी, ऐसा उसमें नहीं रहता। यदि ऐसे भेद करता है तो मिथ्यादृष्टि है। आहा..हा...! क्योंकि ज्ञान का स्वभाव स्वपरप्रकाशक है। स्व को मानना और पर को मानना अर्थात् जानना। परन्तु पर में यह मेरा और तेरा, ऐसा ज्ञान के स्वभाव में नहीं है और सामनेवाली चीज में भी यह मेरा–तेरा ऐसा भेद नहीं है, वह ज्ञेयस्वरूप है। आहा..हा...! आहा..हा...! क्या उसकी शैली ! आहा..हा...!

मुमुक्षु :– 'श्रीमद्' तो प्रतिकूलता को परम मित्र कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री :– वह तो किस अपेक्षा से ? वह तो ज्ञेयस्वरूप है, मुझे नहीं चाहिये और कोई ले जाता है, उस अपेक्षा से। मित्र यानी प्रिय है, ऐसा वहाँ नहीं है। यह तो जो शरीर है वह परज्ञेय स्वरूप है और मेरा, मेरा ऐसा उसमें नहीं है। तो वह जीव आकर ले जाय तो उसमें तो वह मेरा मित्र (हुआ), मेरी श्रद्धा में जो है वैसा उसने काम किया। आहा..हा...!

परम मित्रनो जाणे पाम्या योग जो,
एकाकी विचरतो वळी स्मशानमां,
वळी पर्वतमां वाघ–सिंह संयोग जो,
अडोल आसन ने मनमां नहीं क्षोभता,

आहा..हा...! शेर आया ऐसे पकड़ने के लिये.. ऐसा नहीं। ज्ञानस्वरुप तो जानता है। आहा..हा...! भाई ! आत्मा ज्ञानस्वरूप है ऐसा जिसे प्राप्त–भान हुआ वह ज्ञान तो जानता है। आहा..हा...! वह दो विभाग नहीं करता कि, शेर मुझे प्रतिकूल है और रिश्तेदार मेरी सेवाचाकरी करते हैं इसलिये अनुकूल है। आहा..हा...! स्त्री है नग्न शरीर को ढँके इसलिये मेरी प्रिय स्त्री है और दुश्मन आकर सर काटे इसलिये प्रतिकूल (है), ऐसा ज्ञान में नहीं है। आहा..हा...! और इसलिये ज्ञेय में ऐसे भेद नहीं है। आहा..हा...!

'जाणे पाम्या मित्रनो' अर्थात् हम तो जानते हैं कि हम, ज्ञेयस्वरूप जो जो पर है उसे जाननेवाले हैं। वह हमारे ज्ञेय को जाना इसिलये जाननेवाले हैं। हमारा भगवान आत्मा ज्ञान वह स्व–परप्रकाशक स्वभाव होने से उसे हमने जाना। इसलिये हम परप्रकाशक ज्ञेय को जाननेवाले हैं। परन्तु यह ज्ञेय ठीक है और अठीक है ऐसा है नहीं। आहा..हा...! परम मित्र का अर्थ यह है कि शरीर हमारा है नहीं और पर है तो परस्वरूप चला जायेगा और चले जानावाला होने से कोई लेनेवाला आये तो वह मेरे पास से तो चला जायेगा और वह ले जाता है, वह तो अनुकूल है। आहा..हा...! ऐसा मार्ग... आहा..हा...! राग में डूबकर घूस गये हो उसे कठिन लगे। आहा..हा...! आहा..हा..! मान और अपमान का घूंटन हो गया हो, उसे यह बात कठिन पड़े। आहा..हा...!

क्योंकि प्रभु तुम तो ज्ञानस्वरूप प्रभु चैतन्यधातु हो न ! वह ज्ञानस्वभाव चैतन्य धातु ध्रुव अस्तित्व ठोस भूमि का जहाँ ज्ञान हुआ... आ..हा..! पर्याय का ज्ञान हुआ, ऐसा यहाँ नहीं कहा। राग का ज्ञान नहीं, पहले यह हुआ। आहा..हा...! वह स्वरूप भगवान आत्मा चैतन्य स्वरूप की ठोस भूमि, ध्रुव भूमि। आहा..हा...! जिसमें पर्याय का प्रवेश नहीं तो राग का और पर का प्रवेश कहाँ आया ? ऐसी जो ठोस ध्रुव भूमि प्रभु ! वह जिसे पहचान होकर प्राप्त हुआ... आहा..हा...! उसे परज्ञेय में यह निन्दा और प्रशंसा, ऐसा भेद नहीं रहता। आहा..हा...!

'करुणा हम पावत है तुमकी, वह बात रही गुरु गमकी' भगवान को ऐसा कहे, प्रभु ! आप की करुणा माने क्या ? आपके ज्ञान में, मेरा ज्ञान है उसका आप को भान हुआ, आप के ज्ञान में आया कि यह तो ज्ञानी है, वह आप की करुणा है। आहा..हा...! वह

करुणा है। आहा..हा...! प्रभु ! आप के ज्ञान में अभी मैं समकिती ज्ञानी हूँ, ज्ञान है, ऐसा आप के ज्ञान में आया वह आप की करुणा है। आहा..हा...! ए..! ऐसी बातें हैं। आहा..हा...!

वीतराग अमृत का पिण्ड प्रभु ! आहा..हा...! वीतरागी अमृत का सागर नाथ ! आहा..हा...! ऐसी ध्रुव धातु जिसने अन्दर से पकड़ी, आहा..हा...! उसे सब अनुकूल-प्रतिकूल ज्ञेयस्वरूप जाननेलायक रहता है। ऐसा समताभाव तो सम्यग्दर्शन होने के साथ ही इतना तो आ जाता है, ऐसा कहते हैं। आहा..हा...! जो अस्थिरता के कारण होता है, वह श्रद्धा के कारण नहीं होता। समझ में आया ? आहा..हा...! अस्थिरता को लेकर थोड़ा विकल्प आये वह श्रद्धा के कारण नहीं आता। श्रद्धा में तो अनुकूल-प्रतिकूल सब एकरूप ज्ञेय है, समभाव से जानते हैं। आहा..हा...! उसे दुनिया को नहीं देखना है, उसे दुनिया क्या कहती है वह नहीं देखना है। आहा..हा...! यहाँ वह कहते हैं। आहा..हा..!

'**बाह्य क्रियाएँ मार्ग नहीं बतलाती, (अन्तर का) ज्ञान मार्ग बतलाता है।**' आहा..हा...! मार्ग बतलाता है, हाँ ! '**ज्ञान मार्ग बतलाता है।**' आहा..हा...! सम्यग्ज्ञान जो हुआ वह मार्ग बतलाता है। आहा..हा...! '**मोक्ष के मार्ग का प्रारम्भ सच्ची समझ से होता है,...**' वह सम्यग्ज्ञान जो सच्चे तत्त्व का हुआ, उसका जो ज्ञान (हुआ), उससे मोक्ष का प्रारम्भ होता है, कोई क्रियाकाण्ड करने से मोक्ष का प्रारम्भ होता है (ऐसा नहीं)। आहा..हा..! समझ में आया ? '**मोक्ष के मार्ग का प्रारम्भ सच्ची समझ...**' सत्य समझ। त्रिकाल ध्रुव को पकड़ने से जो ज्ञान हुआ वह सच्ची समझ है। आहा..हा...!

'**क्रिया से नहीं।**' तुम चाहे जितने विकल्प करो। आहा..हा..! उससे.. आहा..! मोक्षमार्ग का प्रारम्भ नहीं होता। 'साध्य-साधक' में आता है। 'अनुभव प्रकाश' में 'साध्य-साधक' आता है और 'आत्मावलोकन' में 'साध्य-साधक' (आता है)। शुभभाव परम्परा. परम्परा (कारण कहा है)। परम्परा का अर्थ तो शुद्ध की दृष्टि हुई है, शुद्ध परिणति हुई है, इस कारण से शुभभाव आया है वह फिर चला जायेगा, इसलिये परम्परा 'साध्य-साधक' में कहा है। वहाँ पकड़े। अरे..! भाई ! वह सब बातें हैं। आहा..हा..!

वह तो 'समयसार' में आता है, परम्परा कारण आता है। उसका अर्थ क्या ? वह शुभराग होनेपर, शुद्धता का भान है और वेदन है इसलिये उसमें अशुभ टला है। इसे (ज्ञानीको) हाँ ! अज्ञानीको शुभ में अशुभ टला नहीं है। समझ में आया ? क्योंकि जो शुद्ध स्वभाव का आधार लिया है, उसमें अशुभ का आश्रय थोड़ा है, शुभ में थोड़ा आश्रय बढ़ा है। यहाँ शुभ हुआ वह, शुभ के कारण नहीं। आहा..हा..! और शुद्ध में आश्रय विशेष बढ़ा है। पर्याय शुद्ध में, हाँ ! आहा..हा...!

चैतन्य स्वभाव जो भगवान आत्मा, उसका जो आश्रय लिया है, इसलिये उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान हुआ है। अब उसे अशुभभाव होता है, तब जो शुभभाव के समय थोड़ा आश्रय बढ़ा है, वह शुभभाव के कारण नहीं। थोड़ा-थोड़ा विशेष है, अशुभ में थोड़ा आश्रय है। आहा..हा...! आश्रय तो हमेशा है, सम्यग्दृष्टि को ध्रुव का ध्येय तो हमेशा है। वह तो तीन बोल आ गये न ? तीन बोल आ गये हैं, साधक को त्रिपटी (दशा) है। आहा..हा...!

ध्रुव के ध्येय का आश्रय तो हमेशा है परन्तु आश्रय में बढ़ जाना, उसकी पर्याय में वृद्धिगत होना, उसमें फ़र्क़ है। आहा..हा..! सम्यग्दर्शन में जो आश्रय लिया, उससे जब पंचम गुणस्थान की स्थिरता आंशिक वृद्धिगत हुई, तब आश्रय विशेष है। आहा..हा...! इस आश्रय के कारण, अशुभ के समय जो आश्रय है, आश्रय तो है परन्तु शुभ के समय

आश्रय का अंश जो वृद्धिगत होता है, वह अशुभ के समय नहीं है। इसलिये शुभभाव आश्रय का कारण है, ऐसा नहीं है। आहा..हा...! और शुद्धभाव जब उपयोग शुद्ध होता है, उस समय प्रभु का आश्रय विशेष है। विशेष है इसलिये शुद्ध उपयोग होता है उसका अर्थ कि विशेष आश्रय है इसलिये शुद्ध उपयोग होता है। शुद्ध उपयोग के आश्रय से शुद्ध उपयोग होता है, ऐसा नहीं। आहा..हा..! इसलिये शुभउपयोग में थोड़ा आश्रय हो... आया है न ? भाई ! 'मोक्ष अधिकार'में। शुभ में धीरे-धीरे क्षण-क्षण में... यह अपेक्षा है। है, ख्याल है। 'मोक्ष अधिकार' में आता है। शुभभाव के समय प्रतिक्षण आश्रय बढ़ता जाता है। आहा..हा...! वह शुभ से नहीं, परन्तु राग की मंदता के समय पहले जो आश्रय था उससे थोड़ा बढ़ा है। आहा..हा...! और उससे शुद्धउपयोग होनेपर विशेष आश्रय बढ़ता है अर्थात् आश्रय विशेष बढ़ता है इसलिये शुद्धउपयोग होता है। आहा..हा..!

उसमें परज्ञेय में वह भेद नहीं पड़ता। आहा..हा...! चाहे सातवीं नर्क की वेदना हो और चाहे तो चक्रवर्ती के सोहल हजार देव शरीर की सेवा (करते हो)। और जिसकी खुराक, एक कवल अरबों रूपये का, जिसे ९६ क्रोड़ पायदल हजम नहीं कर सके, ऐसा, हाँ ! आहा..हा...! फिर भी वहाँ वह ज्ञेयस्वरूप है। यह ठीक है और यह अठीक है, ऐसा नहीं है। आहा..हा...! क्योंकि प्रभु स्वयं वीतराग समता स्वरूप का पिण्ड है। आहा..हा...! उसका आश्रय लिया है वह समता, समता का रस... आहा..हा...! शांतरस बढ़ता जाता है। आहा..हा...! वह '**क्रिया से नहीं।**' आहा..हा...! '**इसलिये प्रत्यक्ष गुरु का उपदेश...**' प्रत्यक्ष गुरु का उपदेश, परोक्ष नहीं, ऐसा कहते हैं। सीधा। वह तो 'श्रीमद्' में भी आता है।

प्रत्यक्ष सद्गुरु सम नहीं, परोक्ष जिन उपकार;
एवो लक्ष्य थया विना, ऊगे न आत्मविचार।।११।।

आहा..हा...! कुछ बातें तो बहुत ही सुन्दर की है। लेकिन श्वेताम्बर-दिगम्बर को भिन्न-भिन्न नहीं किये हैं न... 'आत्मसिद्धि' में भी केवलज्ञानी छद्मस्थ का विनय करे वह बात बहुत खटकी। वह बात नहीं है, वह श्वेताम्बर की झलक आ गई है। केवलज्ञानी किसका विनय करे ? 'गुरु रह्या छद्मस्थ पण विनय करे भगवान, एवो मार्ग विनय तणो...' अतिरेक हो गया। वह श्वेताम्बर की झलक है। 'दशवैकालिक' का नौवाँ अध्ययन है उसमें भी यह है। 'अनन्त...' थोड़ी रह गई थी। आहा..हा...!

मुमुक्षु :- वंद्य-वंदक भाव तो छठवें गुणस्थान पर्यंत ही होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री :- छठवे तक ही होता है। फिर कैसा ? और केवली को कहाँ विकल्प है ? और उनसे अधिक हैं कौन ? आहा..हा...! और तीर्थंकर तो दीक्षा के समय भी णमो अरिहंताणं नहीं बोलते। आहा..हा...! णमो सिद्धाणं (बोलते हैं)। आहा..हा...! नहीं तो णमो अरिहंताणं पहले क्यों आया ? कि जिनकी वाणी है उनका यहाँ उपकार होता है। यहाँ तो निकाल दी। तीर्थंकर हैं वे जब दीक्षा (लेते हैं)... आहा..हा...! दूसरे दीक्षा लेते हैं तब पाँच नमस्कार मंत्र बोलते हैं... आहा..हा...! ये तो सीधा ध्येय। मात्र सर्व णमो सिद्धाणं. बस। गज़ब बात है !

मुमुक्षु :- उन्हें भी पहले तो अरहन्त दशा ही प्राप्त होगी न ?

पूज्य गुरुदेवश्री :- भले हो, परन्तु वन्दन करे पूर्ण सिद्ध प्रभु को। अरिहन्त को चार गये हैं और चार (कर्म) बाकी हैं। मेरा नाथ पूर्णानन्द स्वरूप है, वह पूर्ण पर्याय जिसकी प्रगट हुई उसे नमस्कार करके मैं चारित्र अंगीकार करता हूँ। आहा..हा...! प्रत्येक वाक्य में मर्म है। संतों की वाणी कोई साधारण नहीं है। समझ में आया ? आहा..हा...! और तीर्थंकर का जीव है। आहा..हा...!

'**इसलिये प्रत्यक्ष गुरु का उपदेश और परमागम**

का प्रयोजनभूत ज्ञान...' परमागम का प्रयोजनभूत ज्ञान। ऐसी धारणा हुई और यह, वह, ऐसे नहीं। आहा..हा...! प्रयोजनभूत ज्ञान जो आत्मा को स्पर्श करे ऐसा जो बतलाये वह प्रयोजनभूत ज्ञान है। आहा..हा...! '**परमागम का प्रयोजनभूत ज्ञान मार्गप्राप्ति के प्रबल निमित्त हैं।**' प्रबल निमित्त (हैं)। दूसरे निमित्त हैं उससे प्रबल निमित्त है, ऐसा कहते हैं। आहा..हा...! निमित्त तो भगवान की मूर्ति कहलाये, वेदना निमित्त कहलाये, तीव्र वेदना हो वह। आहा..हा...! बड़े वैमानिक देव की ऋद्धि देखे वह भी निमित्त कहलाये। शास्त्र में आता है न। लेकिन वह कब ? जब स्वयं करे तब उसे निमित्त कहने में आता है। आहा..हा...!

यहाँ वह कहते हैं। परमागम का प्रयोजनभूत ज्ञान। भाषा तो देखिये ! आहा..हा...! परमागम का ज्ञान ऐसे नहीं। आहा..हा...! और गुरु का परोक्ष उपदेश एसे भी नहीं। 'प्रत्यक्ष सद्गुरु सम नहीं, परोक्ष जिन उपकार'। परोक्ष वीतराग भी (हो), उनका उपकार ऐसा नहीं, प्रत्यक्ष जैसा। आहा..हा...! '**प्रत्यक्ष गुरु का उपदेश और परमागम का प्रयोजनभूत ज्ञान...**' आहा..हा...! '**मार्गप्राप्ति के प्रबल निमित्त हैं।**' निमित्त हैं, हाँ ! उपादान नहीं। आहा..हा...!

'**चैतन्य का स्पर्श करके नीकलती हुई वाणी...**' आहा..हा..! वाणी स्पर्श करके नीकलती है ? परन्तु उसका अर्थ यह कि वाणी में निमित्त है। आहा..हा...! 'श्रीमद्'ने ऐसा कहा है, आत्मस्पर्शी वाणी। पत्र में आता है। आहा..हा...! अर्थात् जहाँ आनन्द का वेदन है उस सम्बन्धित जो वाणी नीकले, उसे आत्मस्पर्शी वाणी कहते हैं। आहा..हा...! वाणी नहीं स्पर्श करती आत्मज्ञान को, ज्ञान नहीं स्पर्श करता वाणी को। आत्मस्पर्श नहीं कहा है ? तीसरी गाथा में। आहा..हा...! प्रत्येक द्रव्य अपने गुणधर्म, पर्याय धर्म को चुंबता है, परन्तु परद्रव्य को चुंबता नहीं। और यहाँ कहे, स्पर्शी। क्या अपेक्षा है ? आहा..हा...! 'श्रीमद्' ने पत्र में लिखा है। आहा..हा...! अपेक्षा से बराबर है। अर्थात् अज्ञानमें से अज्ञानी की वाणी आये वह नहीं परन्तु यह तो ज्ञानमें से आती है इसलिये उसे ज्ञान निमित्त है, ऐसा कहना है। आहा..हा...!

वह तो केवलज्ञान है वह लोकालोक को निमित्त है। निमित्त है यानी ? एक चीज है इतनी (बात)। केवलज्ञान है इसलिये लोकालोक है ? और लोकालोक है वह केवलज्ञान में निमित्त है। आता है न ? पीछे अन्त में। 'समयसार'। अमृत भरा है, बापू ! 'समयसार'में। सत्य भरमार भरा है। आहा..हा...!

चैतन्य को अर्थात् जिस वाणी में चैतन्य की निर्मलता का निमित्त है। केवलज्ञान भी निमित्त है लोकालोक को, तो क्या हुआ ? केवलज्ञान भी निमित्त है तो लोकालोक है ? '**चैतन्य को स्पर्श करके निकलती हुई वाणी मुमुक्षु को हृदय में उतर जाती है।**' आहा..हा...!

मुमुक्षु :– पुद्गल आत्मा में उतर जाय ?

पूज्य गुरुदेवश्री :– उतर जाय यानी उसे बैठ जाय। लेकिन मुमुक्षु को। यह जिम्मेदारी है। जिसे यथार्थ जिज्ञासा है उसे। मुमुक्षु–मोक्ष का अभिलाषी। आहा..हा...! १००८ नाम में... कैसे (नाम) ? 'जिनसेनाचार्य'ने कहा, हे प्रभु ! आप तो मुमुक्षु हो, ऐसा कहा। आहा..हा...! १००८ नाम, 'आदि पुराण'। अभी कोई पुस्तक दे गया, 'जेतपुर'वाला। उन्होंने प्रकाशित किया न ? पहले आ गया था, पढा था। 'जेतपुर' से प्रकाशित हुआ है। १००८ नाम 'आदि पुराण' के और १००८ नाम 'आशाधरजी' के। वह 'जेतपुर'वालों ने प्रकाशित किया है, मुमुक्षु मण्डल की ओर से। अभी आये थे एक वह दूसरा दे गये।

'**चैतन्य को स्पर्श करके निकलती हुई वाणी...**' आहा..हा...! सद्गुरु उपदेश से आया न ? 'छे देहादिथी भिन्न आत्मा रे...' ऐसे आया न ? लेकिन जो समझे वह गुरु के उपदेश से समझे, ऐसा आया है,

(शेष अंश पृष्ठ संख्या-१४ पर)

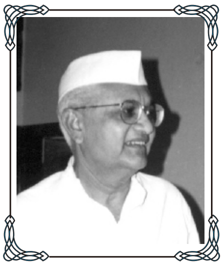

पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा परमागमसार ग्रंथ के बोल-२४८ पर हुआ भाववाही प्रवचन

ता.२२-०५-१९८३, प्रवचन नं.१०७ (विषय : विधि)

भाई ! संयोगों का त्याग हुआ उससे तेरी पर्याय में क्या अन्तर पड़ा ? जब बाहर के हीनाधिक संयोगों का लक्ष्य छूट जाए, कषाय की मंदता या तीव्रता का भी लक्ष्य छूट जाए और तेरी पर्याय चैतन्य वस्तु को लक्ष्य कर तद्‌रूप परिणमित हो तभी मिथ्यात्व का त्याग होता है – यही यथार्थ त्याग है। २४८.

(परमागमसार, बोल – २४८) '**भाई ! संयोगों का त्याग हुआ उससे तेरी पर्याय में क्या अंतर पड़ा ?**' संयोगों का त्याग हुआ माने यह सधनतामें से निर्धनता आयी या परिवार के किसी भी सभ्य की गैरमौजुदगी हुई, अनउपस्थिति हुई या इस शरीर का वजन कम हो गया – लिजीए यह भी संयोग ही तो है न ? पुष्ट शरीर हो हट्टा-कट्टा। कमजोर होते-होते एकदम क्षीण हो जाए, हड्डी-पसली रह जाए या उम्र होने से शिथिलता आ जाए, झुर्रियाँ हो जाती हैं न पूरे शरीर में ? सोना खाये तो भी झुर्रियाँ पड़ती हैं ! तो कहते हैं कि इसमें तेरी अवस्था में क्या फर्क पड़ता ? तेरी जो अवस्था (यानी कि) ज्ञानमात्र – सिर्फ जानना, ऐसी जानने की तेरी अवस्था में क्या फर्क पड़ा ? संयोग का अभाव हुआ, संयोग का त्याग हुआ तो तेरे ज्ञान की अवस्थामें से क्या कम हुआ ?

सुनार के वहाँ सोना (देने के बाद) पाँच तोलामें से दस प्रतिशत कम हुआ, नब्बे प्रतिशत रहा, ठीक है। यहाँ कहते हैं कि तेरी जाननेरूप जो ज्ञान की पर्याय है उसमें कितने प्रतिशत कम हुए ? संयोग छूटा इससे तेरी अवस्थामें से क्या कम हुआ ? कहते हैं कि तेरी अवस्था में कोई फर्क नहीं पड़ता। वह तो अवस्था है कि जो संयोग और वियोग को जानने में निमित्त है, ऐसी ज्ञान की अवस्था है।

जिसको (सिर्फ) जानने से संबंध है ऐसे ज्ञानमें से भी कुछ कम नहीं होता, तो जिसको संबंध भी नहीं है ऐसा जो परम पारिणामिक भाव, इसका तो किसी से कोई संबंध नहीं है। यह तो नोकर्म है। जिसमें संयोग का वियोग होता है वह तो नोकर्म है, जबकि परम पारिणामिक भाव को तो कर्म के उदय से भी संबंध नहीं है, और चारों प्रकार की अवस्था – उपशम, क्षयोपशम, (क्षायिक) और औदयिकभाव के साथ भी जिसका संबंध नहीं है। चारों से पर है। ऐसा जो तेरा मूल स्वरूप है, परम पारिणामिक भाव कि जो तेरा मूल स्वरूप है, जो सिद्धपदरूप है, सदा सिद्धपदरूप है – उसमें क्या फ़र्क पड़ा ? परिपूर्ण स्वरूप में कोई अपूर्णता नहीं होती। किसी भी प्रकार के संयोग का वियोग होने पर इस पूर्ण सिद्धपद में कोई कमी नहीं होती। रंचमात्र अपूर्णता नहीं होती है, ऐसा है। (यहाँ) कहते हैं कि जब तेरी ज्ञान की अवस्था में भी फ़र्क नहीं पड़ता है तो भीतर में जो पूर्ण स्वरूप त्रिकाल सामान्यरूप रहता है वह तो इससे काफ़ी दूर है।

नियमसार में ३८ वीं गाथा के बाद जो (५४ नंबर का) कलश है उसमें यह बात ली है कि सर्व तत्त्वों में सार है ऐसा यह परम पारिणामिक भाव – कारण परमात्मा है वह नष्ट होने योग्य सर्व भावों से दूर है, ऐसा लिया है। दूर है ! आता है ? 'दूर' ऐसा आता है। नष्ट होने योग्य मतलब उसमें चारों प्रकार के भाव ले लेना।

'**सर्व तत्त्वों में जो एक सार है,...**' '**जयति**

समयसार' कारण परमात्मा को यहाँपर समयसार कहा है। '**जयति समयसारः सर्वतत्त्वैकसार**' सर्व तत्त्वों में एक सारभूत है और '**जो समस्त नष्ट होने योग्य भावों से दूर है,...**' '**सकलविलयदूरः**' विलय होनेवाले सकलभावों (से दूर है)। उत्पाद-व्ययरूप चारों प्रकार के विलय पाने योग्य भाव - इससे वह दूर है। जब इसकी पर्यायों से दूर है तो संयोग और वियोग से तो वह अत्यंत दूर है।

वैसे यहाँ प्रश्न पूछ रहे हैं। ज़ोर से बात करना चाहते हैं ! इसलिए प्रश्न चिह्न लगाकर बात करते हैं कि '**भाई ! संयोगों का त्याग हुआ उससे तेरी पर्याय में क्या अंतर पड़ा ?**' तू हर्ष-शोक का वेदन तो पर्याय में करता है न ? कि अरेरे...! मेरा चला गया, लेकिन भाई तेरेमें से कुछ चला नहीं गया। तेरा एक प्रदेश भी कम तो नहीं होता परंतु तेरे एक प्रदेश में हानि भी नहीं हुई ! एक प्रदेश में भी हानि नहीं हुई ! तेरा एक गुण कम तो नहीं हुआ परंतु तेरे एक गुण में हानि नहीं हुई। स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं होता। जब पर्याय में हानि नामुमकिन है तो स्वरूप में हानि होने का सवाल ही नहीं उठता। लेकिन संयोग में मोहान्वित होता है इसलिए दुःखी-दुःखी होता है। यदि स्वरूप का अवलंबन ले तो भीतर में आनंद रसायन प्रगट होता है। रासायनिक पद्धति से यह फेरफार होता है। एकदम फेरफार होता है। इसे रासायनिक पद्धति कहते हैं। 'अनुभव रसायन' भी उसे कहते हैं।

(कहते हैं कि) '**संयोगों का त्याग हुआ उससे तेरी पर्याय में क्या अंतर पड़ा ?**' इसमें एक दूसरा Undertone भी है - ध्वनि बहुत अच्छा है। यदि तुझे अंतर में अभ्यास करना हो तो अवलोकन के अभ्यास की यह पद्धति है कि तुम अंतर में देखते रहो ! प्रतिक्षण, हरएक प्रसंग में, सर्व उदय के काल में तू अंतर में अवलोकन कर ! (दृष्टांतरूप से) जैसे यह दुःख हुआ, वियोग का दुःख हुआ (तब अवलोकन कर कि) यह मेरी पर्यायमें से क्या गया ? मेरेमें से क्या गया ? यह हर्ष हुआ तो मेरे में क्या आया ? (अवलोकन करने पर पता चलेगा कि) कुछ फ़र्क नहीं पड़ता। बाह्य फेरफारों से, आने-जाने से आत्मा में कोई फ़र्क नहीं पड़ता। तेरी पर्याय में क्या फ़र्क पड़ा ? (कि) कोई फ़र्क नहीं पड़ता। जाँच कर ! ऐसा कहते हैं ! अवलोकन द्वारा जाँच करने का इसमें ध्वनि है। इसके बिना तुम्हें प्रतीति नहीं आएगी।

बार-बार अवलोकन द्वारा जाँच करनेपर तुम्हें प्रतीति आएगी कि यह दुःख होता है या हर्ष होता है (यह) मिथ्या है। भीतर में मेरे अंदर कोई फ़र्क नहीं पड़ता। यह केवल कल्पनामात्र से अपनत्व के सेवन के कारण ही सुख-दुःख का वेदन कर रहा हूँ, लेकिन (वास्तव में) सुख के काल में कुछ आता नहीं है और दुःख के काल में कुछ जाता नहीं है। इसप्रकार प्रत्येक उदय के काल में अपने (परिणमन) को देखे और जाँच करे तो खुद की भिन्नता भासित होवे और प्रतीति होने का अवसर आए। भिन्नता भासित होगी तो प्रतीति आने का अवसर है। यह एक अपूर्व कार्य है ! इसप्रकार की अंतर अवलोकन की पद्धति से, बार-बार इसकी Practice (अभ्यास द्वारा), विचार मात्र से नहीं परंतु अवलोकन की बार-बार Practice द्वारा भिन्नता का अभ्यास - भेदज्ञान का अभ्यास करना चाहिए।

हमारी भेदज्ञान पर कई बार चर्चा चली है इसमें यह एक खास पद्धति का विषय है। वरना यह प्रश्न हो सकता है कि, भेदज्ञान कर्त्तव्य है, सर्व साधक भेदज्ञान करते हैं, भेदज्ञान से अनुभव होता है, भेदज्ञान से मोक्षमार्ग में विकास होता है, पूर्णता होती है - परंतु भेदज्ञान शुरू कैसे करें ? यह प्रश्न उपस्थित होता है। हमें भेदज्ञान करना है लेकिन होता नहीं है।

उसको ऐसा कहते हैं कि, 'देख ! तेरे उदय प्रसंग में तु देख ! तेरे में क्या आया ?' अभी गरमी के दिन हैं, प्यास लगे तब ठण्डा पानी पीने की आदमी को इच्छा होती है। नहीं मिल पाए तो तब जो मिलेगा वह पी लेगा। क्योंकि आखिर में जब शरीर में पानी की मात्रा कम हुई है तब गला सुखता है। यह शरीर है वह पुद्गल का पिण्ड है

– जिसमें कुछ हिस्सा प्रवाही का है, कुछ वायु का है, कुछ हिस्सा घन का है। घन, प्रवाही और वायु – ऐसे तीन प्रकार से जड़ पुद्‌गल परमाणुओं की Physical Position होती है। उसे Physical Position कहते हैं। इसमें जब पानी की मात्रा घटती है तब पानी बाहर निकला होता है – पसीना द्वारा, पेशाब द्वारा पानी की मात्रा जब कम होती है तब गला सूखता है। इसलिए नया पानी पीने की इच्छा होती है। गरमी के दिनों में ज्यादा बनता है। क्योंकि पसीना ज्यादा होता है। तब ठण्डा पानी गट... गट... गट... गट पीता है। गट... गट ठण्डा पानी पीए तब लगता है हाश ! (तृप्ति का अनुभव) प्यास मिटी ऐसा कहेगा। (अब कहते हैं कि) तुने हाश ! का अनुभव किया लेकिन तेरी पर्याय में क्या आया यह तो तुं देख !

एक पानी पीने की मामुली–सी क्रिया में भी पानी के पुद्‌गलों से तुने इतना गाढ़ एकत्व कर लिया ! बात तो मामुली–सी है। रोजाना यह प्रसंग बनता है। पानी पीने का तो रोज का उदय प्रसंग है। खाना–पीना इत्यादि शरीर की कुछएक क्रियाएँ तो रोज़ाना बनती हैं न ? अब, उसमें भी यह जीव एकमेक होकर (परिणमन करता है)। उसकी भी आदत इतनी बन चुकी हो कि, घर में सब उपकरण तो लगाये हो लेकिन बिजली चली जाए या दूसरी दिक्कत की वजह से यदि बर्फ जमी न हो तो आकुलता... आकुलता... आकुलता कर बैठे ! इस राज्य में तो ऐसा होता है या इस देश में ऐसा होता है या इस गाँव में ऐसा होता है या इस घर में तो ऐसा होता है। आप लोग सब व्यवस्था रखने में कच्चे हो। न तो राज्यवाले राज्य की व्यवस्था कर पाते हैं, न तो गाँववाले गाँव की व्यवस्था सँभाल पाते हैं, नाहीं घरवाले घर की व्यवस्था ! सब पर रोषित हो जाएगा। भाई की अनुकूलता रह न पाई ! कारण इतना ही कि भाई की अनुकूलता न रह सकी। लेकिन बापू ! ऐसी एकत्व की उदय की परिस्थिति तुझे कब तक चालु रखनी है ? अनंतकाल से तो तू इसी पद्धति से जीता चला आया हो, लेकिन उसमें कहीं भी तुझे सुख–चैन नहीं है। अभी तो नहीं है, भूतकाल में भी नहीं था और भविष्य में भी नहीं रहेगा।

अब तो प्रत्येक उदय के प्रसंग में तु देख तो सही ! ऐसा कहते हैं। बहुत अच्छी (बात आयी है)। भेदज्ञान की प्रक्रिया कैसे करना ? इसकी पद्धति का इसमें पूरा UnderTone है। तू देख तो सही, जाँच तो कर ! कि तेरी पर्याय में क्या फ़र्क पड़ा ? पानी पीने की मामूली–सी क्रिया से लेकर सब से बड़े वियोग की शरीर की – देह छूटने की क्रिया तक के सर्व उदय के काल में एक ही पद्धति है, दूसरी पद्धति नहीं है। अवलोकन कर ! यह पद्धति है। अवलोकन कर कि तेरे में क्या फ़र्क पड़ता है ? क्या आता है ? ठण्डा पानी पिया उसमें क्या आया ? कि तू तो यूँ ही कोरा का कोरा रह गया है। तेरे में कुछ नहीं आया। एक रजकण भी तेरे में नहीं आया और न तो शरीर छूटने पर्यंत भी तेरेमें से कुछ जाता है। अखण्ड, अभेदरूप तेरे परिपूर्ण स्वरूप से सदा तुं जीवंत है। साधकों का देह छूटने का प्रसंग ऐसा बनता है कि एक तरफ देह छूटे – आयुष्य पूरा हो और दूसरी ओर शुद्धोपयोग में लीन हो गये हो !! आखरी उपयोग में ! विग्रहगति में उपयोग नहीं है। असंख्य समय का उपयोग है न ! लेकिन अंदर आखरी समयों में निर्विकल्प शुद्धोपयोग के आनंद में सराबोर (हो), आत्मा आनंद के सागर में डूबा हो ! हिलोरा लेता हो ! दूसरी तरफ देह छूटने की घड़ी आ पहुँची हो, आखरी क्षण चलती हो ! उन्हें क्या दुःख है ? अगर शरीर छूटना यानी कि मृत्यु के कारण दुःख (अनिवार्य ही) होता तो उनको भी उतना ही दुःख होना चाहिए था।

तुझे तो अभी दूसरे की मृत्यु से दुःख होता है कि अरेरे...! मेरे ये लगते थे... मेरे ये लगते थे... मेरे ये लगते थे... जबकि यहाँ तो कहते हैं कि तेरे खुद के शरीर के छूटने पर भी दुःख नहीं है। अरे...! दूसरे के शरीर छूटने से तो दुःख नहीं है, परंतु तेरे शरीर के छूटने से – वियोग से भी तुझे दुःख हो, ऐसा वास्तव में नहीं है। फिर दूसरे दुःख के प्रसंगों से दुःख हो यह तो बात ही (नहीं

रहती)। इसके लिए फिर समाधान कैसे करें, यह सिखाने की जरूरत नहीं है। ये बहुत अमूल्य वचन हैं ! यदि जीव इसकी रीत व विधि सीख ले (व) भेदज्ञान की अवलोकन पद्धति में आ जाए तो निहाल हो जाए ऐसी बात है !!

मुमुक्षु :– भेदज्ञान करना है।

पूज्य भाईश्री :– हाँ। करना है।

भेदज्ञान करना मतलब तू तपास–देख तेरी पर्याय में क्या फ़र्क पड़ा ? जाँच करेगा तो तुझे मालुम पड़ेगा कि मेरी पर्याय में तो कोई फ़र्क नहीं पड़ता। जाननेवाला जो मैं और जाननेवाली ऐसी मेरी ज्ञान की पर्याय, इनमें से तो कुछ नहीं गया। मेरा जानना तो उतना का उतना चालु ही है, ज्ञानमें से तो कुछ नहीं जाता।

भाई को पूछा था। Ambulance में पहले–पहले बोलना उसने चालु किया तब पता चला कि इसे भान है। हमने कहा, अभी तुम्हारेमें से कुछ कम हो गया हो ऐसा कोई अनुभव होता है ? कि तुम्हारी आत्मामें से कुछ कम हो गया हो ? तो कहे, नहि नहि, ऐसा तो कुछ लगता नहीं। हाथ कट गया है, यह मुझे पता है तब भी मेरी आत्मामें से कुछ कम हुआ हो ऐसा अनुभवगोचर नहीं होता। ठीक ! चैतन्यके प्रदेश खंडित होकर कम हो गये हो, ऐसा अंदरमें कुछ अनुभव होता नहीं। और जाननेवाला ऐसा जो ज्ञान, उस ज्ञान में कोई कमी आयी हो या ज्ञान कम हुआ हो ऐसा कोई फेरफार पर्याय में तो नहीं हुआ, ज्ञान तो उतना ही मौजुद है। कोई फेरफार नहीं हुआ। इसप्रकार भीतर में खुद की भिन्नता का अवलोकन करना, यह भेदज्ञान का कार्य है। ऐसा कहते हैं। क्या फ़र्क (अंतर) पड़ा तेरे में ? कि कोई अंतर नहीं पड़ा। बाहर में हिनाधिक संयोग जो भी हो उसका लक्ष्य छूट जाएगा। अगर इसप्रकार अंदर में भेदज्ञान करता रहे यानी कि खुद की भिन्नता को जाँचपूर्वक देखता रहे तो जीव का संयोगों की हानि–वृद्धि पर से लक्ष्य छूट जाएगा, (जैसे) कि, अरेरे...! मेरे संयोग इतने हीन हैं और दूसरों के संयोग इतने मजबुत हैं।

यहाँ संसारी प्राणी को तो ऐसा लगता है कि, सगे भाई के थोड़े संयोग बढ़ जाए तो भी अंदर में ऐसा लगे कि, अरेरे...! मैं पीछे रह गया और वह आगे निकल गया ! उसके पास तो बहुत कुछ आता है, बहुत मिलता है जब कि मुझे इतनी कमाई नहीं हो रही है। अरेरे...! मैं छोटा और वह बड़ा (आदमी) बन गया ! संयोग की वृद्धि होने से जैसे वह बड़ा (आदमी) बन गया और मैं छोटा रह गया ! यह संयोग का लक्ष्य है। ऐसे भाव होना इसमें संयोग का लक्ष्य है। अपनी जाँच करता रहे तो यह संयोगों का लक्ष्य छूट जाए। नास्ति से संयोग का लक्ष्य छूट जाए और अस्ति से ज्ञानस्वभाव का लक्ष्य हो जाए ! ये सारी बातें लक्ष्य बदलने के लिए हैं। 'लक्ष्य थवाने तेहनो,...' तेहनो मतलब आत्मा का, निजस्वरूप का। निजस्वरूप का लक्ष्य होने के लिए 'कह्यां शास्त्र सुखदाई' निजस्वरूप का लक्ष्य होने के लिए ये शास्त्र जो हैं वे सुख के दातार हैं, जिसका बोध सुख का दातार हैं, जो नित्यबोधक है – ऐसे शास्त्र कहे गये हैं।

(यह) क्या कहते हैं ? '**जब बाहर के हीनाधिक संयोगों का लक्ष्य छूट जाए,...**' (अर्थात्) हीन संयोगों से मैं हीन नहीं और अधिक संयोगों से मैं महान नहीं। मेरी महानता सर्व काल सर्वाधिक ही है। तीनलोक का नाथ मैं सदा हूँ ! संयोगों में कुछ भी हो इससे मेरा कोई वास्ता नहीं है। लेकिन दूसरे ऐसा नहीं मानते हैं। मैं महान हूँ ऐसा दूसरे नहीं मानते हैं (तो क्या) तुझे दूसरों से मनवाकर महान होना है क्या ? दूसरे महान माने जब तो तेरी महानता वरना तेरी महानता नहीं ! अरे ! ऐसी हीन प्रकार की महानता भी नहीं है तेरी ! तेरी महानता इतनी महान है कि दूसरों के नहीं स्वीकार करने पर भी तू तो महान ही रहता है। उसमें हीनत्व नहीं आता। ऐसा है।

खुद तो न कहे, लेकिन दूसरा कुछ कहे इतने में तो भीतर में गुदगुदी होने लगे ! ठीक ! 'मेरी तारीफ़ हो रही है, मेरी प्रशंसा हो रही है, मेरे बारे में अखबार में छपता

है, फोटो छपता है और चारों तरफ मेरी वाह-वाह हो रही है, पूरे संघ में मेरी वाह-वाह हो रही है।' कहते हैं कि भाई ! तू संघपति नहीं परंतु तू तो त्रिलोकनाथ, त्रिलोकपति हो ! (संघपति तो) छोटा पद है। नीच पद में तुझे हर्ष हो रहा है ! तुझे हीनपद में महानता भासित होती है !! दारू पीकर कीचड़ के दुर्गंधयुक्त गड्ढे में गिरे तब शरीर में व्याप्त दारू की गरमी के कारण ठंडक अच्छी लगे, वैसी बात है। तेरा महान पद इतना बड़ा है कि उसे कोई दूसरा महानता देवे तब उसकी महानता है वरना नहीं, इतनी अपेक्षा भी उसे नहीं है। बिना किसी की अपेक्षा वह महान है।

इसप्रकार अपने परिपूर्ण पद को लक्ष्य में ले तब जीव का संयोगों की हीनाधिकता पर से लक्ष्य छूट जाता है। दोनों एक साथ बनता है। एक तरफ संयोग का लक्ष्य छूटे तो उसी काल में आत्मा का लक्ष्य होवे। जिस काल में आत्मा का लक्ष्य हो उसी काल में संयोग का लक्ष्य छूट जाता है, ऐसा है।

मनुष्यभव में दूसरे संयोगों से भी मान की विशेषता - मान कषाय की विशेषता जीवों को विशेष मात्रा में होती है। पैसा न हो तो आदमी को चलता है, लेकिन यदि मान मिलता हो तो भूखा रहना भी पसंद कर लेगा ! फिर उसका गौरव माना जाता है कि भले ही उसके पास दूसरे संयोग नहीं हैं लेकिन इसका मान तो देखो ! उसको कितना मान मिलता है ! कहते हैं कि वह भी संयोग का ही लक्ष्य है। दूसरे लोग ऐसा कहते हैं - उसरूप संयोग का इसमें लक्ष्य है और जब तक ऐसे संयोग का लक्ष्य है तब तक आत्मा का लक्ष्य नहीं है। आत्मा के लक्ष्य का उसमें अभाव है। ऐसा यह जो संयोग का लक्ष्य है वह छूट जाता है, आत्मा का लक्ष्य होने पर वह छूट जाता है। दूसरा इसका कोई उपाय नहीं है।

(कहते हैं कि) '**संयोगों का लक्ष्य छूट जाए, कषाय की मंदता या तीव्रता का भी लक्ष्य छूट जाए और तेरी पर्याय चैतन्यवस्तु को लक्ष्य कर तद्रूप परिणमित हो तभी मिथ्यात्व का त्याग होता है - यही यथार्थ त्याग है।**' लीजिए ! यह त्याग (की परिभाषा) है ! कषाय मंद हो चाहे तीव्र हो उसका भी लक्ष्य छूट जाए, (लेकिन) ज्ञान तो होता है। पता तो रहता है। उसकी अवस्था में जो है ! (इसलिए उसका ज्ञान तो होता है)। अतः कषाय तीव्र हो, मंद हो (परंतु) रस तीव्र नहीं होता। जिसको स्वरूप का लक्ष्य हो और संयोग का लक्ष्य छूट गया हो, उसको स्वरूप रस के कारण चैतन्य रस पैदा हुआ है - उत्पन्न हुआ है। इस वजह से विरुद्ध ऐसा कषायरस तीव्र नहीं होता। और यदि मान लो कषाय तीव्र हो, कषाय मंद हो, वैसे तीव्र-मंद, तीव्र-मंद कषाय की स्थिति हो तो भी उसका लक्ष्य छूट जाता है, वह गौण हो जाता है। उसमें मंदता हुई मतलब क्या (कि जो) तीव्र कषाय था वह मंद हुआ। (कषाय) होता है (जरूर) लेकिन उस पर उसका वजन नहीं जाता।

कषाय तो मंद हुआ न ! कषाय तो तीव्र नहीं हुआ न ! इतना नुकसान हो गया फिर भी दुःख तो कम हुआ न ! यह समझ थी तो इतना तो दुःख कम हुआ न ! इतना समझ का प्रभाव तो जरूर है न ! ऐसे-ऐसे प्रकार से कषाय पर लक्ष्य नहीं रखना है, ऐसा कहते हैं। वह लक्ष्य का विषय नहीं है। पता तो चलेगा किन्तु उस पर ज़ोर जाना या उस पर लक्ष्य रहना - यह पद्धति गलत है। यह पद्धति सही नहीं है।

इसलिए ऐसा कहते हैं कि, '**कषाय की मंदता या तीव्रता का भी लक्ष्य छूट जाए और तेरी पर्याय चैतन्यवस्तु को लक्ष्य कर तद्रूप परिणमित हो...**' (कषाय का) लक्ष्य छूट जाता है, यह लक्ष्य सम्यग्दर्शन के पूर्व बदल जाता है, निर्णय होता है तब, भावभासन के समय। और आगे जाकर तेरी पर्याय (चैतन्य वस्तु को पकड़े) मतलब ज्ञान में अखण्ड चैतन्य का ग्रहण हो, अभेदभाव हो, भाव से अभेदता हो (अर्थात्) पर्याय पर्याय रहे, द्रव्य द्रव्य रहे; परंतु भाव से अभेदता हो - तब चैतन्य वस्तु को पकड़ कर जो परिणमन हुआ इसमें मिथ्यात्व का त्याग

यानी कि नाश हुआ, मिथ्यात्व का अभाव हुआ, मिथ्यात्व उत्पन्न नहीं हुआ। तब वास्तव में सम्यक् प्रकार से आत्मा ने त्याग की श्रुआत की। इसके पहले किया गया बाह्य त्याग वास्तविकरूप से त्याग नहीं है बल्कि मैंने त्याग किया, ऐसे त्याग के अभिमान का ग्रहण हुआ है। त्याग के बजाय त्याग के अभिमान का वह ग्रहण हो गया ! इसके लिए तो आगे कह गये कि तुझे शल्य हो चुका है, मिथ्यात्व की पुष्टि हो गई।

कहते हैं कि '**तेरी पर्याय चैतन्यवस्तु को लक्ष्य कर तद्‌रूप परिणमित हो तभी मिथ्यात्व का त्याग होता है – यही यथार्थ त्याग है।**' यही यथार्थ त्याग है। त्याग की सही पद्धति – सम्यक् प्रकार से भगवान द्वारा कथित जो रीत है उसमें प्रथम मिथ्यात्व का त्याग होता है फिर असंयम का त्याग होता है। भाव असंयम का त्याग होता है तब साथ ही साथ द्रव्य असंयम का भी निमित्तरूप से अभाव हो, तब उसे लोग बाह्यत्याग किया ऐसा भी स्वीकार करते हैं। यह बात आगे जाकर इसी पद्धति में विकास हो तब बनती है। इस यथार्थ प्रकार से आगे बढ़ना चाहिए, ऐसा कहते हैं। वह सही अर्थ में त्याग है। देखिये ! इस प्रकार त्याग की परिभाषा भी यहाँ पर की गई है। (समय हुआ है)।

❖

पूज्य गुरुदेवश्री प्रवचन...

निमित्त से कथन है। आहा..हा...! और उसमें यह कहा, 'प्रत्यक्ष सद्‌गुरु सम नहीं, परोक्ष जिन उपकार' वीतराग है वे भले परोक्ष हो गये। आहा..हा...! परन्तु जो प्रत्यक्ष है, आहा..हा...! ऐसा उपकार परोक्ष का नहीं होता।

'**मुमुक्षु को हृदय में उतर जाती है।**' आहा..हा...! वह 'वडिया' के हैं, 'महुवा' की बेंक में मेनेजर हैं। आये थे। आहा..हा...! पुस्तक बहुत अच्छा, बहुत अच्छा। जो पढ़ता है उसे (ऐसा हो जाता है।) अन्यमति मध्यस्थी हो वह पढ़े तो उसे चोंट लगती है। ऐसी शैली से सहज आ गया है, वह उन्होंने स्वयं ने तो लिखा नहीं है, लिखा तो किसी और ने है। आहा..हा...!

'**आत्मस्पर्शी वाणी...**' देखिये ! फिर से आया। '**चैतन्य को स्पर्श करके निकलती हुई वाणी...**' यहाँ '**आत्मस्पर्शी वाणी आती हो...**' आहा..हा...! '**और जीव एकदम रुचिपूर्वक...**' आहा..हा..! लेकिन यह शर्त। एकदम रुचिपूर्वक, यह शर्त। आहा..हा...! '**जीव एकदम रुचिपूर्वक सुने तो सम्यक्त्व के निकट हो जाता है।**' कहिये, इस भाईने रात्रि में प्रश्न किया था न। कहाँ गये ? भाई। यह प्रश्न आया, सम्यक् सन्मुख का रात्रि में प्रश्न आया था न ?

मुमुक्षु :– कितने घण्टे ध्यान करना ?

पूज्य गुरुदेवश्री :– यहाँ तो कहते हैं, एकदम। आहा..हा..! परन्तु शर्त यह है कि उसे रुचि अन्दर जानी चाहिये। आहा..हा...! और उसमें आया न ? 'पद्मनंदि पंचविंशतिः'। जो अध्यात्म की धारा उपदेश.. आहा..हा..! रुचिपूर्वक सुनता है। ... आहा..हा..! वहाँपर भी यह शर्त है। वह शर्त यहाँ रखी है। आहा..हा...! .. आहा..हा...! प्रेम से जिसे अन्दर से रुचि (जागृत हुई है)। आहा..! यह वस्तु क्या है ? इसप्रकार प्रेम रुचिपूर्वक जिसने सुनी है। आहा..हा...! भावि निर्वाण भाजन। उसे अन्तर में पुसाया है, भाव अन्दर में पुसाया है। आहा..हा...! वह अल्प काल में सिद्ध का भाजन होगा अर्थात् सिद्धपद प्राप्त होगा। भावि निर्वाण भाजन का अर्थ यह। आहा..हा...! कठिन बात है, भाई ! यह बातें... आहा..हा...! अन्दर से बात बैठनी... भाई ! '**एकदम रुचिपूर्वक सुने...**' ऐसी भाषा है न यहाँ तो ? विशेषण है। '**तो सम्यक्त्व के निकट हो जाता है।**' सम्यक्त्व के निकट हो जाय। आहा..हा...! ३८६ वचनामृत (पूरा हुआ)। विशेष आयेगा...

(श्रोता :– प्रमाण वचन गुरुदेव !)

❖

पूज्य भाईश्री द्वारा लिखित 'अनुभव संजीवनी' ग्रंथमें से कुछएक वचनामृत

अप्रैल – १९८८

समझकी यथार्थताका लक्षण वह है कि 'परम सत्‌की' अपूर्वता भासित हो अथवा चोंट लगे और (अंतर्मुख होनेका) सहज प्रयास शुरु हो। (२३२)

❖

परिणाममें उत्पन्न रस – वह परिणामकी व्यक्त शक्ति है । स्वभावका रस स्वभावशक्तिको वृद्धिगत करता है। विभावरस विभावभावोंकी (शक्तिको) वृद्धिगत करता है। यह ध्यानमें / लक्ष्यमें लेने योग्य है। (२३३)

❖

मई – १९८८

आत्मस्वरूपकी परम पवित्रता, शुद्धता, सामर्थ्यकी शाश्वत अनंतता, ध्रुवता, अखंडता ही समाधि व ध्यानका कारण है, नि:चंचलताका कारण है। आत्मस्वरूप स्वयं परम प्रयोजनभूत है, उसके सिवा अन्य द्रव्य–भाव निष्प्रयोजनभूत है। (फिर भी) अप्रयोजनभूत विषयके प्रति प्रवर्तित परिणाम चंचलताके उत्पादक है, चंचलता मलिनताकी उत्पादक है। स्वरूपध्यानी यह अच्छी तरह जानते हैं, इसलिये असंगताको चाहते हैं । असंग निजतत्त्वकी दृष्टि असंगपनेकी साधक है । जनपदत्याग–ध्यानका अंग है। (२३४)

❖

प्रशस्तराग भक्तिका बहिरंग है, 'सत्‌'का ज्ञान भक्तिका अंतरंग है, जिससे जगत अनजान है। – यह रहस्य सारभूत है, राग हेय है और उक्त ज्ञान उपादेय है, जो मुमुक्षुको समकितका कारण है; एवं सर्व साधकको विशेषरूपसे वर्तता है। (– कृपालुदेव) (२३५)

❖

जब सत्पुरुषकी पहचान होती है तब मुमुक्षुजीवके ज्ञाननेत्रको उनके हृदयमें बिराजमान परमात्माके दर्शन होते है। जिससे अंतरंग भक्ति प्रगट होती है – इस कारणसे निज परमात्माके दर्शनके योग्य भूमिकाकी प्राप्ति होती है। इसप्रकारसे 'सत्पुरुषमें परमेश्वरबुद्धि' सहज उत्पन्न होती है। जो अध्यात्ममार्गका मूल रहस्य है (और) नियमसे सत्‌प्राप्तिका (एकमात्र) कारण है। (२३६)

❖

दु:ख इच्छाके प्रमाणमें है; इच्छाका मूल परमें सुखबुद्धिरूप मिथ्यात्व है। दु:ख प्रतिकूल संयोग अनुसार नहीं है। शाश्वत चैतन्यरूप स्वयंके अनुभवपूर्वक पर्यायको स्वांग समान जाने तो मरण तकका भय/दु:ख न रहे, वही मुक्तभाव है। (२३७)

❖

कुल–क्रमसे धर्म नहीं होता । संप्रदायबुद्धि पापकी जनक है। वीतरागका मार्ग अनंत विशाल है। 'सर्व जीवमें समबुद्धि' स्थापित करने योग्य है। अंतरमें झुकनेसे पहले सर्व विपर्यास छूट जाने चाहिये। किसीके भी प्रति तिरस्कारबुद्धि नहीं होती ! दुष्टवृत्तिमात्र निषेध्य है, व्यक्ति नहीं। व्यक्ति तो एक 'आत्मा' है, जो परमार्थसे, स्वरूपसे परमात्मा है। (२३८)

❖

हयाति (अस्तित्व) को आधारबुद्धिके साथ संबंध है। आत्मस्वरूपमें रहा हुआ अनंत सुख, उसकी मौजुदगी प्रतीतमें आते ही, जीवको खुदके सुखके लिये दूसरेका आधार लेना मिट जाता है। ज्ञानवेदनसे स्वभावकी अनंतता–बेहदताका अस्तित्व ग्रहण होनेसे, सर्व प्रकारकी दीनता छूट जाती है और चिद्रस उत्पन्न होता है। (२३९)

❖

विपरीत श्रद्धानसे जीवको परमें, सुख नहीं होनेके बावजुद भी, सुखका विश्वास / प्रतीत है। इसलिये पर विषयको सुखबुद्धिसे भोगनेसे सुखका (आभासरूप) अनुभव होता है। परन्तु वास्तविकतामें वह सुख नहीं होनेसे किसीको भी तृप्ति नहीं होती। आत्मिकसुखकी गटागटीसे (अनुभवसे) प्रतीत होते ही पुरा जीवन बदल जाता है। वह जीव परमें कहीं भी सुखके कारण धोखा नहीं खाता। (२४०)

❖

समस्त अन्यमत, अभिनिवेषमेंसे उत्पन्न हुए हैं; जो दर्शनमोहकी तीव्रताके द्योतक है। अत: मुमुक्षुजीवको अभिनिवेषको सर्वाधिक पाखंड समझकर, सावधान होकर दूर रहना योग्य है। (१) लौकिक अभिनिवेष और (२) शास्त्रीय अभिनिवेष – दोनोंका फल एक है। 'अप्रशस्त शास्त्रीय अभिनिवेष'' सबसे भयंकर अनिष्ट है। (२४१)

❖

२५, मई – १९८८

उदयकालमें जीव पाँच इन्द्रियोंके विषयभूत पदार्थोंका वेदन (भोगवटा) जितने रसके अनुपातमें करता है; उतने रसके अनुपातमें असाता वेदनीयका बंध पड़ता है। अगर उस अशाताके उदयके पहले भेदज्ञानकी शक्ति साध्य नहीं की हो तो वेदनाकालमें तन्मय होकर असाताका दु:ख भोगना ही पड़े, और उतने अंशमें परसे भिन्न ज्ञानवेदन करनेकी शक्ति क्षीण होती है। अत: शारीरिक असाता वेदनाको उदयकालमें परवशपनेसे भोगनी ही पड़ती है। जब कि भेदज्ञानके अभ्याससे भिन्न ज्ञानवेदनको घड़नेसे और वेदनाके कालमें तीव्र पुरुषार्थ उठानेसे (स्फूरीत होनेसे) पुरुषार्थके अनुपातमें जीव वेदनासे मुक्त रह सकता है। (२४२)

❖

मुमुक्षुजीव तत्त्वज्ञानका अभ्यास – वांचन – विचार (तो) करे, परंतु उदयमें पूर्ववत् रुचिपूर्वक उदयका वेदन करे, तो भेदज्ञानका पुरुषार्थ करनेकी शक्ति क्षीण हो जानेसे, उसको इच्छा होनेके बावजुद भी भेदज्ञान नहीं हो सकता बल्कि उसको भेदज्ञान करनेकी समस्या खड़ी हो जाती है। इसलिये यदि जागृतिपूर्वक उदयकालमें मंद परिणामसे उदय–वेदन हो, (भेदज्ञानके प्रयोगके कारण) तो आगे बढ़ा जाय।

वांचन–विचार बाह्य क्रिया है, वह भावनाकी वृद्धिके प्रयोजनसे होने चाहिये। (जब कि) भेदज्ञान अंतर क्रिया है। बाह्य क्रिया उदय आधिन होती है। अंतरक्रिया पुरुषार्थ आधिन होती है। इसलिये अंतरक्रिया किसी भी प्रकारके बाह्य साधनके बिना सतत हो सकती है। अत: बाह्यदृष्टि छोड़कर अंतरक्रियामें प्रवर्तन करना – वही हितावह है।

बाह्यकार्योंकी गिनती करनेमें बाह्यदृष्टि रहती है जो अहितकर है, अथवा अंतर क्रियाको अवरोधक है। सच्ची आत्मभावना हो तो उसमें गिनती नहीं होती। (२४३)

पूज्य बहिनश्री की तत्त्वचर्चा

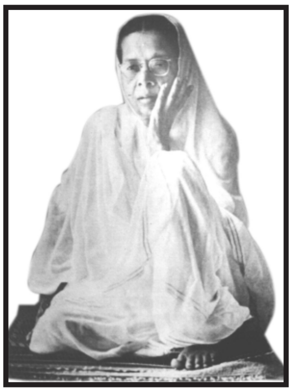

प्रश्न :– विकल्प तोडनेका उपाय क्या है ?

समाधान :– विकल्पसे भेदज्ञान करना कि विकल्प मैं नहीं हूँ; विभाव भिन्न हैं, मैं भिन्न हूं; मैं निर्विकल्प ज्ञायकतत्त्व हूँ। पहले विकल्पसे भेदज्ञान करे और यथार्थ श्रद्धा करे कि मैं ज्ञायक हूँ। ज्ञायककी दृढ़ प्रतीति करके–भीतरमेंसे ज्ञायकको पहिचान करके–उसे भिन्न करे कि मैं एक ज्ञायक हूँ। विकल्प मेरा स्वभाव नहीं है; मेरे पुरुषार्थकी मन्दतासे विकल्प होते हैं; लेकिन वह मेरा स्वभाव नहीं है, मैं उनसे भिन्न हूँ–ऐसा विकल्पसे भेदज्ञान करे, फिर ज्ञायकमें लीनता करे तो विकल्प टूटते हैं। विकल्पोंके साथ एकत्वबुद्धि हो रही है वह एकत्वबुद्धि तोड़ देना। विकल्प मैं नहीं हूँ, मैं ज्ञायक हूँ, जाननेवाला हूँ, ऐसा भेदज्ञान करना ही विकल्प तोड़नेका उपाय है। विकल्प विकल्पसे नहीं टूटता। इन विकल्पोंको तोडूँ–तोडूँ, वह भी विकल्प है। मैं ज्ञायक हूँ, ज्ञायक हूँ, ऐसी ज्ञायककी परिणतिको दृढ़ करना। ज्ञायककी परिणति दृढ़ करनेसे भेदज्ञान होता है। **(स्वानुभूतिदर्शन–४२३)**

❖

प्रश्न :– ''मैं ज्ञायक हूँ, ज्ञायक हूँ'' ऐसा तो घोखता ही रहता हूँ।

समाधान :– ऐसा अंतरंगसे होना चाहिये। घोखनेसे तो भावना रूप (शुभ विकल्प) होता है। वह विकल्प मैं नहीं हूँ, मैं तो ज्ञायक निर्विकल्प तत्त्व हूँ–ऐसा अंतरमेंसे ज्ञायकका बल प्रगट करना। विकल्पसे भेदज्ञान करना।

(स्वानुभूतिदर्शन–४२४)

❖

प्रश्न :– ज्यों ज्यों स्वभावको ग्रहण करनेका अभ्यास बढ़ता जाय त्यों त्यों उसमें कौनसा बल आता होगा ?

समाधान :– वह अभ्यास अंतरसे होना चाहिये, अंतरसे अभ्यास हो तो बल आता है। अभ्यास होनेपर अपने आप उसे दृढ़ता आ जाती है कि मार्ग यही है। चाहे जितने उच्च विकल्प हों, परन्तु हैं तो वे विकल्प ही; उनसे मेरा स्वभाव भिन्न है। समस्त विकल्प आकुलता रुप हैं। शुभ विचार तो बीचमें आते हैं, परन्तु मेरा जो निराला अस्तित्व है वह तो जुदा ही है, ऐसा अपनेको ग्रहण होना चाहिये। **(स्वानुभूतिदर्शन–४२५)**

❖

प्रश्न :– मैं सामान्य द्रव्य हूँ, इसीमें क्या सब आ जाता है ?

समाधान :– मैं सामान्य द्रव्य हूँ इसमें सब आ जाता है; परन्तु उससे क्या ? स्वभाव ग्रहण होना चाहिये न ? सामान्यरूपसे मैं हूँ, मैं हूँ, ऐसे आये; परन्तु मैं कौन हूँ ? कैसे स्वभाववाला हूँ ? मेरा स्वरूप क्या है ? वह ग्रहण होना चाहिये। अनादिसे शरीरमें अपना अस्तित्व माना है; परन्तु शरीर तो स्थूल है। उससे आगे बढे तो विकल्पमें अपना अस्तित्व मानता है; परन्तु मेरी ज्ञायकता जुदी ही है ऐसा नहीं मानता। क्षण–क्षणमें जो पर्यायें होती हैं उनमें अपना अस्तित्व मान रखा है, परन्तु मैं तो शाश्वत टिकाऊँ हूँ–ऐसे स्वभावका ग्रहण होना चाहिये। उसके लिये इतनी उसकी लगन हो, अंतरमेंसे महिमा लगे, गहरे जा कर पुरुषार्थ करे तो ग्रहण हो। धीरे करे या जल्दी करे किन्तु करनेका तो यह एक ही (कार्य) है। वह न हो तबतक उसकी जिज्ञासा–तत्त्व–विचार, देव–शास्त्र–गुरुकी महिमा, श्रुतका चिन्तवन करते रहना, किन्तु करनेका एक ही है। अन्य लोग तो बाह्यमें कहीं अटके पड़े हैं। यहाँ तो गुरुदेवने मार्ग बतलाया है कि (कार्य) अंतरमें करनेका है। **(स्वानुभूतिदर्शन–४२६)**

प्रश्न :– स्वानुभूतिमें जो उपयोग है वह प्रमाणस्वरूप है अथवा नयस्वरूप है ?

समाधान :– स्वानुभूतिमें उपयोग प्रमाणस्वरूप है और वह सहजरूपसे है। दृष्टि स्वयं ज्यों की त्यों है और ज्ञान प्रमाणरूप है। वह सब निर्विकल्परूपसे है। वहाँ विकल्पात्मक नय–प्रमाण कुछ लागू नहीं होते। स्वानुभूतिके कालमें नयपक्ष तो कहीं चले जाते है; नयकी लक्ष्मी कहाँ चली गई वह दिखाई नहीं पड़ती, प्रमाण अस्त हो गया और निक्षेपोंका समूह कहाँ चला गया उसकी कुछ खबर नहीं पड़ती। राग युक्त सब नयके पक्षपात छूट जाते हैं, और सहज परिणति जो कि जीवका स्वरूप है वह ज्यों की त्यों रह जाती है। उस कालमें उपयोग द्रव्य–पर्याय सबको जानता है। उपयोग प्रमाण रूप और परिणति शुद्धनयरूप है।

(स्वानुभूतिदर्शन–४२७)

❖

प्रश्न :– एकबार ज्ञानी हुआ और आनन्ददशा प्रगट हुई, उसे आनंद रुचा, आनन्द कैसा है उसका स्वाद आया, कैसे प्रगट होता है उसकी भी खबर पडी; तब फिर दूसरी बार शुद्धोपयोग आनेमें विलम्ब क्यों होता है ?

समाधान :– यह स्वरूप आदरणीय है, स्वरूपमें स्थिरता करने जैसी है; यह शुभाशुभभाव हेय हैं; ऐसा वहाँ श्रद्धाका बल है, परन्तु उतनी लीनता नहीं है। उस लीनताकी कमीके कारण उसे शुद्धोपयोग आनेमें विलम्ब होता है। वहाँ कोई कृत्रिमता करनेकी नहीं है। कृत्रिम लीनता करनेसे कहीं अंतरमें स्थिर नहीं हो सकता। बहारका जो राग पड़ा है अर्थात् आसक्तियाँ पडी हैं उनसे अंतरमें भेदज्ञान तो हो गया है; परन्तु पुरुषार्थकी कमीके कारण शुद्धोपयोग आनेमें विलम्ब होता है।

गृहस्थाश्रममें सम्यग्दृष्टि पुरुषार्थकी मन्दताके कारण बाह्यमें रुका हुआ हो, बाह्य प्रवृत्तियों के प्रपंच में पड़ा हो, उसमेंसे उसकी परिणति निवृत्त होकर अन्तर्लीन हो जाय तब उसे पुनः अनुभूति होती है। पुरुषार्थकी मन्दताके कारण उसे इतनी देर लगती है। वह कृत्रिमता करके अंदर नहीं जाता। बाह्य गृहस्थाश्रम संबंधी अनेक प्रकारके कार्योंमें लगा हो, अनेक प्रकारके रागमें रुका हुआ हो तब भी उसके अंतरमें भेदज्ञानकी धारा प्रवर्तती है। मैं पृथक् का पृथक्, उससे (रागांशसे) निरन्तर पृथक् ही हूँ–ऐसी पृथक्ताकी धारा प्रवर्तती है। उसी धाराके बलसे परके साथ एकत्वरूप नहीं होता, न्यारा ही रहता है। मेरा स्वरूप उससे जुदा है, मैं तो ज्ञाता हूँ, ऐसी भेदज्ञानकी धाराके कारण वह, चाहे जिस कार्यमें लगे वहाँ, कर्ता नहीं होता।

ज्ञानी अंतरमें स्थिर होना चाहता है परन्तु पुरुषार्थ की मन्दतासे बाह्यमें जुड़ता है। इसी समय पूर्ण वीतराग हो सके तो उसे यह कुछ नहीं चाहिये, इतना श्रद्धाका बल है; परन्तु पुरुषार्थकी गति इतनी नहीं होती इसलिये बाह्यमें रुकता है। यदि इसी समय पुरुषार्थकी गति चले तो उसे अंतरमें ही जाना है, ऐसी भावना है और तदर्थ निरन्तर पुरुषार्थ भी करता है। ज्ञातृत्वधाराको टिकाने के लिये तथा वृद्धि करनेके लिये उसके पुरुषार्थकी गति चालु है, उसका पुरुषार्थ प्रतिक्षण चलता ही है। ज्ञायककी ज्ञाताधारा ऐवं उदयधारा–उन दोनोंके बीच भेदज्ञानकी धारा तो चल ही रही है; परन्तु विशेष लीन होकर अंतरमें जानेके लिये उसके पुरुषार्थकी मन्दता है, इसलिये नहीं जा सकता।

सम्यग्दर्शन होनेके पश्चात् तुरन्त ही केवलज्ञान हो जाय ऐसा नहीं है। क्योंकि अनादिकालसे परिणतिमें जो कुछ अध्यवसानके अंश हैं उनसे भेदज्ञान तो हुआ, परन्तु भेदज्ञान होते ही समस्त राग नहीं छूट जाता, इसलिये उसे देर लगती है। अनन्तानुबन्धी कषाय टल गये हैं, स्वरूपाचरणकी परिणति प्रगट हुई है, परन्तु अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान ऐसे अल्प–अल्प कषाय हैं जिनके कारण अंतरमें विशेष स्थिर नहीं हो सकता, इतनी पुरुषार्थकी मन्दता है। ज्ञायककी धारा तो निरन्तर अविच्छिन्न गतिसे दिन–रात ज्यों की त्यों चलती ही रहती है; उसमें उसे किंचित् भी अवरोध नहीं आता ऐसी पुरुषार्थ की धारा चलती ही रहती है। उसे अंतरमें कोई अपूर्व आनन्द स्फुरित हुआ है, स्वानुभूति कोई अनूठी लगती है और अंतरस्थिरताका प्रयत्न वर्तता है, परन्तु स्थिर हो नहीं पाता। **(स्वानुभूतिदर्शन–४२८)**

❖

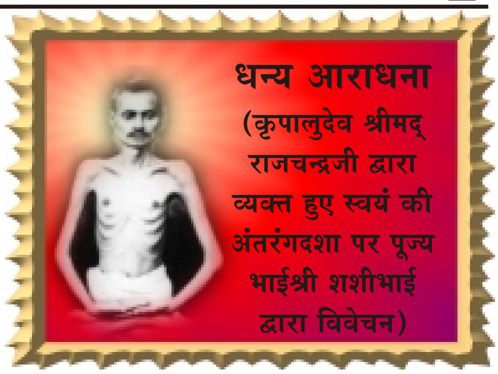

३७९

बंबई, जेठ वदी ३०, शुक्र, १९४८

'उपाधियोगकी अधिकता रहती है। बलवान क्लेश जैसा उपाधियोग देनेकी 'हरिच्छा' होगी, अब इस स्थितिमें वह जैसे उदयमें आये वैसे वेदन करना योग्य समझते हैं। संसारसे कंटाले हुए तो बहुत समय हो गया है, तथापि संसारका प्रसंग अभी विरामको प्राप्त नहीं होता; यह एक प्रकारका बड़ा 'क्लेश' रहता है। आपके (श्री सौभाग्यभाईके) सत्संगकी अत्यंत रुचि रहती है, तथापि उस प्रसंगकी प्राप्ति के लिये अभी तो 'निर्बल' होकर श्री 'हरि' को सौंपते हैं। हमें तो कुछ करनेकी बुद्धि नहीं होती, और लिखनेकी बुद्धि नहीं होती। कुछ कुछ वाणीसे प्रवृत्ति करते हैं, उसकी भी बुद्धि नहीं होती; मात्र आत्मरूप मौनस्थिति और उस सम्बन्धि प्रसंग, इस विषयमें बुद्धि रहती है। ...'बुद्धि तो मोक्षके विषयमें भी स्पृहावाली नहीं है।''

परम कृपालुदेवको वर्तमान बाह्य परिस्थिति अधिक उपाधियुक्त है। बलवान क्लेश उत्पन्न होवे, ऐसा उपाधियोग पूर्वकर्मके कारण है, और उस उदयको सम्यक्प्रकारसे समाधानपूर्वक भिन्न रहकर वेदन करना उचित जानते हैं। बहुत समय पहले संसारसे तो कंटाला आ गया है फिर भी संसारका प्रसंग चालू रहता है, और विरामको प्राप्त नहीं होता; वह अरुचिका प्रसंग होनेसे और उसका आदर नहीं होनेसे, (तथापि उसके प्रति उक्त प्रकारसे समाधान होनेसे) संसारी जीवसे विलक्षण प्रकारका क्लेश भाव वर्तता है। अर्थात् अरुचिकर विषयके प्रति जैसा अज्ञान अवस्थामें द्वेष उत्पन्न होता है, वैसा क्लेशभाव नहीं वर्तता। परन्तु स्वरूपआश्रित पुरुषार्थमें उसका सहज निषेध आ जाता है, ऐसा समझने योग्य है।

श्री सौभाग्यभाईके सत्संगकी रुचि होने पर भी उसमें कर्तृत्व नहीं होनेसे उस प्रसंगको कुदरत अधीन समझकर, समाधान रहता है। मुख्यरूपसे ज्ञाताभावरूप वर्तना होनेसे कुछ करने सम्बन्धित, यानी कि संयोगिक फेरफारकी प्रवृत्ति करने सम्बन्धित बुद्धि नहीं होती। लिखनेका भी मन नहीं होता। प्रवृत्ति कुछ अंशमें होती है, फिर भी बोलनेका अभिप्राय नहीं है। सिर्फ आत्मारूप होकर, मौनस्थिति सबनी रहे – वैसा अभिप्राय रहता है।

उनकी दृष्टिके कब्ज़ेमें परिपूर्ण गुणनिधान परम तत्त्व होनेसे, भावि मोक्षपर्यायकी भी स्पृहायुक्त बुद्धि नहीं होती – ऐसी एक अलौकिक परितृप्ति वर्तती है।

ट्रस्ट के इस स्वानुभूतिप्रकाश के हिन्दी अंक (जनवरी–२०१५) का शुल्क श्री परिचंद्र घोषाल परिवार, कलकता के नाम से साभार प्राप्त हुआ है, जिस कारण से यह अंक सभी पाठकों को भेजा जा रहा है।